होशंगाबाद विज्ञान : सीख, समझ और अवसरों का पिटारा

प्रशांत कुमार दुबे

लेख के दो भाग हैं। पहले भाग में लेखक हाल ही में हुए अपने एक अनुभव का ज़िक्र करते हैं। वे बताते हैं कि बच्चों को व्यस्त रखने के मक़सद से उन्होंने उनके साथ एक प्रयोग किया और इस प्रयोग को करते हुए बच्चे सोचने की प्रक्रिया में शुमार हो गए। बच्चों को ऐसे प्रयोग में मशगूल देख लेखक अपने अतीत में चले जाते हैं और यहीं से लेख का दूसरा भाग शुरू होता है। अपनी स्कूली शिक्षा के दिनों को याद करते हुए लेखक बताते हैं कि उन दिनों शुरू किए गए विज्ञान शिक्षा के एक कार्यक्रम ने विज्ञान की कक्षाओं को कैसे बदल दिया। लेकिन यह ना तो ज़्यादा स्कूलों तक पहुँचा ना ज़्यादा समय तक चल पाया। वे उन कुछ कमियों की बात करते हैं जिन पर यदि ध्यान दिया जाता तो विज्ञान शिक्षा में बेहतरी का यह कार्यक्रम आगे बढ़ सकता था। सं.

पिछले दिनों एक मित्र के घर गया। बच्चे बहुत शोर कर रहे थे, जो कि उन्हें करना ही चाहिए, लेकिन हमें भी बात करना बहुत ज़रूरी था। इसलिए मैंने बच्चों से कहा, “क्या तुम लोग घर में बैठकर मन्दिर के घण्टों की आवाज़ सुनना चाहते हो।” मैं जानता था कि बच्चों का जवाब ‘हाँ’ में ही होगा। एक पल को तो वे आश्चर्यचकित हुए। मेरा ऐसा विश्वास था कि यहीं से उनके मन में विचारों की एक अन्तहीन श्रृंखला शुरू हो जाएगी– यही कि क्या घण्टे, मन्दिर से घर में लाए जाएँगे...? कैसी आवाज़ आएगी...? यह सब होगा कैसे...? आदि। इसी बीच मैंने बच्चों से कहा कि वे केवल दो चम्मच और धागा लाएँ और सुन लें मन्दिर के घण्टों की आवाज़– वह भी घर बैठे! इस बात ने कौतूहल और बढ़ा दिया। बच्चे थोड़ी देर में चम्मच और धागा लेकर हाज़िर हो गए। मैंने दोनों चम्मचों को धागे में इस तरह बाँधा कि वह गिरें नहीं, और धागे के दोनों सिरों को उन बच्चों की उँगलियों में बाँधकर उनके कानों में यूँ लगा दिया जैसे कि वह कोई ईयरफोन हो। एक दो बार चम्मच को टकरा दिया। इसके बाद बच्चे थे और यह प्रयोग।

शुरुआत में यह प्रयोग बच्चों के लिए एक खेल ही रहता है लेकिन धीरे-धीरे से ही वे इसमें से सवाल निकालना शुरू करते हैं। सोचना शुरू करते हैं कि यह ‘कैसे हो रहा है...’ ‘क्या हो रहा है...’ ‘क्यों हो रहा है...’ से लेकर ‘इसलिए होगा’– तक की यात्रा ही दरअसल विज्ञान है। यदि हम विज्ञान जैसे कठिन और तथाकथित उबाऊ विषय को इतना सरल, मज़ेदार, रोचक और इतना ही लोकतान्त्रिक कर दें, जो हरेक की पहुँच में हो, तो फिर क्या कहने : पर जो सरल है वही तो कठिन है! बच्चे घण्टों मन्दिर के ये घण्टे सुनते रह सकते हैं, अपनी राय बनाते रह सकते हैं, ख़ारिज करते रह सकते हैं...।

अब तक मेरी जगह बच्चों के बीच बन गई थी। वे कुछ और नहीं तो मुझसे खुलकर बात तो करने ही लगे थे। मुझे यह नहीं पता कि उन्हें मेरा पहला प्रयोग समझ में आया या नहीं। मैं

उन्हें समझाता भी नहीं हूँ। विज्ञान शिक्षण की सबसे बड़ी दिक़्क़त यही है कि हम विज्ञान को समझाने लगते हैं, जबकि वह तो समझने की विषयवस्तु है। यह स्थिति स्कूलों की भी है और बहुत हद तक घरों की भी। मेरा बहुत ही स्पष्ट मानना है कि यदि विज्ञान में मज़ा आने लगे तो बच्चे सवाल भी करने लगते हैं और उसके हल भी ढूँढ़ना शुरू कर देते हैं; या कम से कम उस दिशा में सोचना तो शुरू करने लगते हैं। हमारे आसपास सब कुछ तो विज्ञान है, ज़रूरत उसे समझने की ही है।

बच्चे, घण्टे वाला प्रयोग कर चुके थे। मैंने बच्चों से पूछा, "क्या आपके घर में फ़ोन है?" किसी ने कहा कि लैण्डलाइन तो एक है, लेकिन मोबाइल कई सारे हैं। इस पर मैंने पूछा, "अच्छा बताओ कि यह कैसे काम करता है? यानी, आप किसी को फ़ोन लगाते हैं तो दूसरे व्यक्ति से बात कैसे हो जाती है? "बच्चे नहीं जानते हैं। उन्हें पता भी कैसे चलेगा क्योंकि उन्होंने तो फ़ोन पर बात करना भर सीखा है, या हमने वैसा ही बताया है– इसमें बच्चों का कोई दोष नहीं। एक उत्साही बालक ग्राहम बेल के आविष्कार से शुरू होकर ओएफ़सी (आप्टिकल फ़ाइबर केबल) तक पहुँच जाता है। लेकिन मेरा मूल सवाल जस का तस है कि यह कैसे काम करता है? अब बच्चे सोच में पड़ जाते हैं।

> मेरा बहुत ही स्पष्ट मानना है कि यदि विज्ञान में मज़ा आने लगे तो बच्चे सवाल भी करने लगते हैं और उसके हल भी ढूँढ़ना शुरू कर देते हैं; या कम से कम उस दिशा में सोचना तो शुरू करने लगते हैं। हमारे आसपास सब कुछ तो विज्ञान है, ज़रूरत उसे समझने की ही है।

मैं ही उनकी तन्द्रा तोड़ता हूँ और उनसे पूछता हूँ, "ज़रा यह बताओ कि 2 रुपए में चालू फ़ोन बन सकता है क्या... जिससे बात भी हो जाए और पता भी चल जाए कि यह काम कैसे करता है?" सभी बच्चों ने लगभग एक सुर में कहा– "इम्पॉसिबल।" बस यही वो पल है जिसके बाद विज्ञान मज़ा भी देता है और बच्चों को तर्कसंगत भी बनाता है। यदि बच्चे किसी भी प्रयोग के पीछे के वैज्ञानिक तर्क को समझ लें तो फिर उनके लिए अपने आसपास हो रही घटनाओं के पीछे की कहानियाँ निकालने की तैयारी बढ़ती है, और यही सबसे बेहतर तरीक़ा है विज्ञान को समझने का। तो अब मेरी बारी थी बच्चों के 'इम्पॉसिबल' को 'पॉसिबल' करने की। बच्चों से दो माचिस और एक रुपए का धागा लाने को कहा। बच्चे लाए। मैंने उनसे कहा कि वे सभी तीलियों को एक जगह इकट्ठा कर लें (यह बाद में काम आएँगी)। एक बच्चे को माचिस के ख़ाली डिब्बे में धागा पिरोकर गठान बाँधकर दूर जाने को कहा। दूसरे बच्चे को भी यही बताया। दोनों जब दूर-दूर खड़े हो गए तो मैंने बताया कि इस प्रयोग में शर्त यही है कि धागा तना रहे। अब एक छोर पर खड़े बच्चे से कुछ कहने को और दूसरे छोर पर खड़े बच्चे से सुनने को कहा गया। इसके बाद तो हो गई बात शुरू! यह बच्चों के लिए एक बढ़िया गतिविधि बन गई। उन्हें बहुत मज़ा आने लगा। यहाँ से हम भी अपनी बातों में जुट गए।

जब बच्चे थोड़ी देर बाद फ़ोन वाला खेल खेलकर लौटे, तो हमने यह पूछने की जल्दबाज़ी नहीं दिखाई कि इस प्रयोग से वे क्या सीखे? आमतौर पर हम बड़े, बच्चों को बहुत जल्दी यह बताना चाहते हैं या उनसे जानना चाहते हैं कि यह खेल/प्रयोग क्या सिखाता है। जबकि हरेक बच्चे की सीखने, समझने, गुनने और मथने की प्रक्रिया अलग-अलग है। ठीक इसी तरह की जल्दबाज़ी हमारी पाठ्यपुस्तकों में भी देखने को मिलती है। हर पाठ के बाद पहला सवाल यही होता है, 'इस कहानी से हमें क्या शिक्षा मिलती है? 'यह प्रक्रिया एक समय बाद एक से ही ढर्रे पर होने लगती है और बच्चे बग़ैर कुछ जाने-समझे कुछ भी बताने को आतुर रहते

हैं। लिहाज़ा हमने बच्चों से ऐसा कुछ नहीं पूछा। हमारा मानना है कि बच्चों को मनन करने दो, गुनने दो, मथने दो अपने भीतर उस प्रयोग को। उन्हें क्या सीखना है, नहीं सीखना है यह उन पर छोड़ना उचित होगा। मुझे यक़ीन है कि 35 बच्चे 35 तरह से सोच रहे होंगे। लेकिन जैसे ही हम यह कह देते हैं कि इस कहानी से अमुक शिक्षा मिलती है, तो वहीं से सोचने की प्रक्रिया ख़त्म और याद रखने (रटने) की शुरू होती है।

हमें तो चूँकि अपने दोस्त के साथ बात करनी थी, इसलिए हम एक के बाद एक प्रयोग करने को कह रहे थे, जो कि ग़लत है। यह ठीक वैसा ही है कि बच्चे की समझ बने या ना बने, लेकिन स्कूलों में पाठ्यक्रम को ख़त्म करने की जानी-अनजानी होड़ लगने लगती है। मैंने बच्चों से कहा कि वे ज़रा षट्कोण, अष्टकोण बनाकर बताएँ। बच्चों ने काग़ज़ पर आकृतियाँ उकेरनी शुरू कर दीं तो मैंने कहा कि वे इसे भौतिक रूप से बनाकर बताएँ। यहाँ पर बच्चे फँस गए। हम बच्चों को आकृतियों में तो इस तरह की चीज़ें बता देते हैं लेकिन व्यवहार में समझाते नहीं हैं। जब बच्चे नहीं बना पाए तो मैंने बच्चों से पूछा कि साइकिल कितनों के पास है– लगभग सभी ने 'हाँ' में जवाब दिया। मैंने कहा, "साइकिल का वॉल्वट्यूब (ट्यूब में हवा भरने के स्थान पर लगा रबर का पाइप) ले आओ और माचिस की वही तीलियाँ भी, जो फोन के प्रयोग के समय हमने निकालकर रख दी थीं।" मैंने कुछ ही सेकण्ड में बच्चों को तीलियों और वॉल्वट्यूब से षट्कोण बनाकर दिखाया। बच्चे बहुत ही कौतूहल से पहली बार अपने हाथों में षट्कोण को उठाकर देख रहे थे। अब आकृतियाँ थीं और बच्चे थे।

हमारा मानना है कि बच्चों को मनन करने दो, गुनने दो, मथने दो अपने भीतर उस प्रयोग को। उन्हें क्या सीखना है, नहीं सीखना है यह उन पर छोड़ना उचित होगा। मुझे यक़ीन है कि 35 बच्चे 35 तरह से सोच रहे होंगे। लेकिन जैसे ही हम यह कह देते हैं कि इस कहानी से अमुक शिक्षा मिलती है, तो वहीं से सोचने की प्रक्रिया ख़त्म और याद रखने (रटने) की शुरू होती है।

बच्चों को बहुत मज़ा आ रहा था, लेकिन सवाल क़ायम है कि बच्चों को मज़ा क्यों आ रहा था...? क्योंकि बच्चों ने इतने सरल प्रयोगों/शब्दों और कम ख़र्च में विज्ञान को समझा ही कहाँ था! वे जिन स्कूलों में पढ़ते हैं वहाँ अधिकांशतः विज्ञान को रटाया ही जा रहा है।

यहीं से मैं अपने अतीत यानी होशंगाबाद शिक्षण कार्यक्रम की ओर लौटा। यह मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले में विज्ञान को जन-जन तक और बच्चे-बच्चे तक मज़ेदार तरीक़े से ले जाने का एक अभिनव प्रयोग था। इसे 'एकलव्य' नामक संस्था ने शुरू किया था। मैंने अपने उच्च प्राथमिक स्कूल जीवन में, यानी कक्षा 6ठी से 8वीं तक, इसे पढ़ा था। पढ़ना शायद ठीक शब्द न हो तो, मैं कह सकता हूँ कि जिया था। यह वर्ष 1988 के आसपास की बात थी। शोभापुर नामक छोटे से गाँव में हमें श्री एनके साहू सर पढ़ाते थे। दरअसल उसमें पढ़ना कहाँ था? उसमें तो बस घूमना था, अपने आसपास को अपने चश्मे से समझना था, जानना था। थोड़े बहुत दिशा निर्देश किताब ने दे दिए थे। बच्चे को यह सब मिल जाते तो और क्या चाहिए था। बच्चों के लिए यह केवल मज़े का एक सौदा था।

सातवीं तक हम अपने आसपास के पेड़, पौधों, उनकी पत्तियों, पत्तियों की संरचनाओं आदि के विषय में जान गए थे। हालाँकि मैं यह नहीं कहता कि गाँव के एक बच्चे को यह सब सीखना होता है, बल्कि उसका तो इन सबसे बचपन से ही साक्षात्कार होता रहता है। फ़र्क़ यह था कि हम व्यवस्थित रूप से समझ रहे थे। यूँ अपने आसपास मक्खी को उड़ते देखते ही हैं, लेकिन मक्खी का जीवन-चक्र क्या है...

यह मैंने यहीं जाना। वो भी कहाँ से... ? गोबर से। गोबर में शक्कर/गुड़ रखो। मक्खी उस पर आएगी, अपने अण्डे देगी। अण्डे की अलग-अलग अवस्थाओं को सूक्ष्मदर्शी की मदद से देखना, अपने अवलोकन लिखना और एक दिन मक्खी का उड़ जाना। एक बच्चे के लिए इससे अच्छा और क्या होगा कि उसे परीक्षा में अपनी किताब अपने साथ ले जाने का मौक़ा दिया जाए। लेकिन उससे भी रोचक यह है कि बच्चा उस किताब की ओर न देखे– क्योंकि वह तो सार को समझ रहा है। फिर, यदि बच्चा मर्म को समझ जाए तो क्या कहने! दार्शनिक अर्थों में कहें तो जिसने मक्खी के जीवन-चक्र को समझते हुए जीवन की नश्वरता को समझा है, उसके लिए परीक्षा जैसे आडम्बर तो फिर छलावा हैं और अपना आसपास, सब कुछ, विज्ञान है।

हम कुछ ऐसे ही समझे थे विज्ञान को। इस प्रक्रिया का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी रहा कि यदि बच्चे किसी शंका में हों या फिर कोई जिज्ञासा हो तो उसे भी सुनिश्चित किए जाने की व्यवस्था की गई। बच्चों को भरोसा हो गया था कि यदि हम कोई भी बात पूछेंगे तो जवाब मिले या न मिले, पर कोई तो है जो हमारी बात सुनेगा। अव्वल तो हमारे यहाँ ज़्यादा सवाल करने वाले बच्चे को ही हम 'बतख़ोर' बोल देते हैं, या फिर हम बच्चों को अनुशासन के नाम पर बोलने ही नहीं देते हैं। नतीजतन, बच्चे पूछना ही बन्द कर देते हैं। मुझे बहुत अच्छे से याद है कि हमारे स्कूल में मेरे द्वारा बार-बार सवाल पूछने पर एक सर कहते थे, "कित्तो सवाल पूछत है जो मोड़ा...", और वे पूरी कक्षा के सामने टिप्पणियाँ करते। मैंने धीरे-धीरे पूछना बन्द कर दिया तो फिर कहते थे, "पूछ ले, पूछ ले, नहीं तो पेट दुखे है।"

अव्वल तो हमारे यहाँ ज़्यादा सवाल करने वाले बच्चे को ही हम 'बतख़ोर' बोल देते हैं, या फिर हम बच्चों को अनुशासन के नाम पर बोलने ही नहीं देते हैं। नतीजतन, बच्चे पूछना ही बन्द कर देते हैं। मुझे बहुत अच्छे से याद है कि हमारे स्कूल में मेरे द्वारा बार-बार सवाल पूछने पर एक सर कहते थे, "कित्तो सवाल पूछत है जो मोड़ा...",

बहरहाल, इस प्रयोग में बच्चों को सवाल पूछने की पूरी आज़ादी थी और इस बात की गारण्टी भी कि उनके सवाल का जवाब मिलेगा। किताब के पीछे सवालों से बनाई गई आकृति के रूप में 'सवालीराम' का स्कैच बना रहता था। आज सोचता हूँ कि उसका नाम सवालीराम क्यों था? जबकि वह तो जवाब देता था! और जब सवालीराम का जवाब किसी को आ जाए तो उस पोस्टकार्ड को इस तरह से बताना जैसे कोई ख़ज़ाना हाथ लगा हो, यह मेरे लिए एक अलग ही अनुभव था। ऐसा करना शायद और भी बच्चों को सवाल पूछने के लिए प्रेरित करता रहा होगा।

विज्ञान शिक्षण की यह प्रक्रिया बहुत ही रोचक रही। लेकिन इसके साथ तीन तरह की दिक़्क़त रही, जो काफ़ी बाद में समझ में आई। जैसे, सबसे बड़ी बात है कि यह कार्यक्रम उच्च प्राथमिक स्तर से शुरू किया गया। जबकि इसके पहले एक बच्चा 5 साल (प्राथमिक स्तर) तक एक ढर्रे में ढल चुका होता है– वह न चाहते हुए भी रटन्त विद्या में निपुण हो जाता है क्योंकि शिक्षण की पद्धतियाँ भी वैसी ही हैं। दूसरा मसला है कि एक ओर विज्ञान शिक्षण को लेकर तो बहुत ही अलग तरह का काम है, लेकिन बाक़ी विषयों को शिक्षक उसी अरुचि/ढर्रे से पढ़ा रहे हैं। इससे बच्चों की एक विषय में तो रुचि बढ़ती है, लेकिन जब दूसरे विषय उसी अरुचि से पढ़ाए जा रहे हैं तो विद्यार्थियों का भ्रमित होना बहुत ही सामान्य है। तीसरी है शिक्षक बिरादरी, जो कि विज्ञान शिक्षक को 'फ़ुरसतिया' कहकर सम्बोधित करती क्योंकि उन्हें लगता कि विज्ञान शिक्षक तो बच्चों को आसपास भेज देते हैं और ख़ुद फ़ुर्सत में रहते हैं। 'फ़ुरसतिया', एक खीझ से उपजा शब्द

था। प्रशिक्षण, शिक्षण की गुणवत्ता, बच्चों की समझ के अनुरूप शिक्षण और स्वयं की सोच में परिवर्तन : यह सब करना आसान तो नहीं है। इतना सब करने के बाद भी यह सम्बोधन दिया जाता रहा, जो समझ से परे है। मुझे यह नहीं पता कि विज्ञान शिक्षकों ने इसे कैसे लिया, पर शायद अच्छे से तो नहीं लिया होगा।

इसके अलावा जो सबसे बड़ी चुनौती थी वह यह कि इस प्रक्रिया में पालक और समुदाय दोनों ही लगभग दर्शक दीर्घा में रहे। उनसे न कोई संवाद था और न ही प्रतिक्रिया पाने की कोई गुंजाइश। प्रयोग अच्छे हैं या नहीं, या इनसे बच्चे की सीख, समझ और सोच में बदलाव हो रहा है या नहीं– यह सब जाँचने-मापने की कोई भी क्रियाविधि विकसित नहीं की गई थी। इससे यह प्रक्रिया काफ़ी हद तक एकतरफ़ा हो गई थी, जो कि इस पूरी प्रक्रिया का दुर्भाग्यपूर्ण पहलू था। इस प्रक्रिया का सबसे सकारात्मक पक्ष तो यही था कि शिक्षकों की एक बड़ी प्रशिक्षित जमात सामने आ रही थी जिन्होंने विज्ञान को आत्मसात कर बच्चों के सामने मनोरंजनात्मक तरीक़े से रखने का हुनर सीख लिया था।

वर्ष 2002 : एक दिन अचानक ख़बर आती है कि होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम बन्द कर दिया गया। कुछ बहुत ख़ुश थे, कुछ बहुत निराश। मैं अपने आपको निराश समूह में पाता था। मुझे लगता है कि इन कमज़ोरियों को दूर करते हुए इस तरह के प्रयोग आधारित विज्ञान शिक्षण को बढ़ावा दिए जाने की आज भी बहुत ज़रूरत है। मेरा बहुत ही मज़बूती से मानना है कि बच्चों को विज्ञान को समझने के मौक़े दिए जाने चाहिए, न कि हर वक़्त उन्हें समझाते रहना चाहिए।

प्रशांत कुमार दुबे पिछले डेढ़ दशक से विभिन्न संगठनों के साथ जुड़कर बाल अधिकार के मुद्दे पर सक्रिय रूप से कार्य कर रहे हैं। वर्तमान में 'आवाज़' भोपाल से सम्बद्ध हैं।
सम्पर्क : prashantd1977@gmail.com.